आचारांगसूत्र में श्रमण-जीवन

श्री मानमल कुदाल

आचारांगसूत्र में साधना के अनमोल मार्गदर्शक सूत्र उपलब्ध हैं, जो न केवल श्रमण-श्रमणियों के लिए उपयोगी हैं, अपितु साधनाशील श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी वे उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। मूर्च्छा को तोड़कर किस प्रकार समता, अप्रमत्तता साधना में आगे बढ़ा जा सकता है, इसका मार्गदर्शन आचारांग सूत्र में उपलब्ध है। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणाचार से सम्बद्ध व्यावहारिक नियम दिए गए हैं। -सम्पादक

श्रावकधर्म से आगे की कोटि श्रमणधर्म है। श्रमण-धर्म के लिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने आकाश-यात्रा शब्द का प्रयोग किया है। यह श्रमण धर्म की यात्रा साधारण यात्रा नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के 19 वें अध्ययन की गाथा 39 में कहा गया है- "साधु होना, लोहे के जौ चबाना है, दहकती ज्वालाओं को पीना है, कपड़े के थेले को हवा से भरना है, मेरु पर्वत को तराजू पर रखकर तौलना है, और महासमुद्र को भुजाओं से तैरना है। इतना ही नहीं, तलवार की नग्न धार पर नंगें पैरों चलना है।"

श्रमण-जीवन के लिये भगवान महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है- "साधु को ममता रहित, निरंहकार, निःसंग, नम्र और प्राणिमात्र पर समभावयुक्त रहना चाहिए। लाभ हो या हानि, सुख हो या दुःख, जीवन हो या मरण, निन्दा हो या प्रशंसा, मान हो या अपमान, सर्वत्र सम रहना ही साधुता है। सच्चा साधु न इस लोक में कुछ आसक्ति रखता है और न परलोक में। यदि कोई विरोधी तेज कुल्हाड़े से काटता है या कोई भक्त शीतल एवं सुगन्धित चन्दन का लेप लगाता है, साधु को दोनों पर एक जैसा ही समभाव रखना होता है। वह कैसा साधु जो क्षण-क्षण में राग-द्वेष की लहरों में बह निकले, न भूख पर नियंत्रण रख सके और न भोजन पर।"

जैन धर्म में श्रमण का पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक विकासक्रम में उसका स्थान छठा गुणस्थान है, और यहाँ से यदि निरन्तर ऊर्ध्वमुखी विकास करता रहे तो अन्त में वह चौदहवें गुणस्थान की भूमिका पर पहुँच जाता है और फिर गुणस्थानातीत होकर सदाकाल के लिए अजर-अमर, सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाता है। जैन साहित्य में श्रमण-जीवन सम्बन्धी चर्या का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ऐसा सूक्ष्म एवं नियमबद्ध वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। यही कारण है कि आज के युग में जहाँ दूसरे सम्प्रदाय के साधुओं का नैतिक पतन हो गया है वहाँ जैन साधु अब भी अपने संयम-पथ पर चल रहे हैं। आज भी उनके संयम की झांकी के दृश्य आचारांग, उपासकदशांग, दशवैकालिक, आवश्यक सूत्र,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ एवं जीतकल्प तथा दिगम्बर परम्पराभिमत मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत आदि ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

आगम साहित्य में जैन-श्रमण की नियमोपनियम-सम्बन्धी जीवनचर्या का अतीव विराट् एवं तलस्पर्शी वर्णन है। विशेष जिज्ञासुओं को आगम-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ हम संक्षेप में आचारांगसूत्र में वर्णित श्रमणचर्या का परिचय दे रहे हैं:-

आचारांग सूत्र में श्रमण-चर्या

जहाँ तक आचारांग में प्रतिपादित आचार नियमों का प्रश्न है मूलतः वे सभी नियम अहिंसा, अनासक्ति एवं अप्रमत्तता को केन्द्र में रखकर बनाये गये हैं। जीवन में अहिंसा और अनासक्ति को किस चरम सीमा तक अपनाया जा सकता है इसका आदर्श हमें आचारांग में देखने को मिल सकता है। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध जहाँ आचार के सामान्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है, वहाँ द्वितीय श्रुतस्कन्ध उनके व्यवहार पक्ष को स्पष्ट करता है। विद्वानों ने आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध को प्रथम श्रुतस्कन्ध की व्यावहारिक व्याख्या ही माना है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में मूलतः अहिंसा, अनासक्ति, कषायों और वासनाओं के विजय का सूत्र रूप में संकेत किया गया है, जबकि दूसरे श्रतुस्कन्ध में इनसे ऊपर उठकर कैसा जीवन जीया जा सकता है, इसका चित्रण किया गया है। दूसरा श्रुतस्कन्ध मूलतः मुनिजीवन में भोजन, वस्त्र, पात्र आदि सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार की जाय, इसका विस्तार से विवेचन करता है। आचारांग का आचार पक्ष व्यावहारिक दृष्टि से कठोर कहा जा सकता है, किन्तु उसमें साधना के जिस आदर्श स्वरूप का चित्रण है, उसके मूल्य को नकारा नहीं जा सकता।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में श्रमण चर्या

आचारांग में सर्वप्रथम सूत्रकार ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को बतलाते हुए क्रियाओं की विपरीतता तथा क्रियाओं से होने वाले प्रभावों पर प्रकाश डाला है, जो किसी भी साधक अथवा श्रमण के लिए प्रेरणा का कार्य करती है। इसके आगे मूर्च्छित मनुष्य की क्या दशा होती है?, इस पर प्रकाश डाला गया है। डॉ. के.सी. सोगानी ने अपनी आचारांग चयनिका की प्रस्तावना में इसकी विशद चर्चा की है। उनके अनुसार वास्तविक स्व-अस्तित्व का विस्मरण ही मूर्च्छा है। इसी विस्मरण के कारण मनुष्य व्यक्तिगत अवस्थाओं और सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न सुख-दुःख से एकीभूत होकर सुखी-दुःखी होता रहता है। मूर्च्छित मनुष्य स्व-अस्तित्व (आत्मा) के प्रति जागरूक नहीं होता है, वह अशांति से पीड़ित होता है, समता भाव से दरिद्र होता है, उसे अहिंसा पर आधारित मूल्यों का ज्ञान देना कठिन होता है तथा वह अध्यात्म को समझने वाला नहीं होता है (18)*। मूर्च्छित मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में ही ठहरा रहता है (22)। वह

*** लेखक ने डॉ. कमलचन्द सोगाणी कृत एवं प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर से प्रकाशित 'आचारांग चयनिका' की प्रस्तावना को अपने आलेख का आधार बनाया है तथा कोष्ठक में जो सूत्र संख्या दी है वह भी आचारांग चयनिका के सूत्रों के अनुसार है।-सम्पादक**

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आसक्ति युक्त होता है और कुटिल आचरण में ही रत्त रहता है (22)। इस तरह वह अर्हत् (जीवन-मुक्त) की आज्ञा के विपरीत चलने वाला होता है (22,80)। स्व-अस्तित्व के प्रति जागरूक होना ही अर्हत् की आज्ञा में रहना है। इस जगत में यह विचित्रता है कि सुख देने वाली वस्तु दुःख देने वाली बन जाती है और दुःख देने वाली वस्तु सुख देने वाली बन जाती है। मूर्च्छित मनुष्य इस बात को देख नहीं पाता है (35)। इसलिए वह सदैव वस्तुओं के प्रति आसक्त बना रहता है। यही उसका अज्ञान है (38)। विषयों में लोलुपता के कारण वह संसार में अपने लिये वैर की वृद्धि करता रहता है (39) और बार-बार जन्म धारण करता रहता है(46)। अतः कहा जा सकता है कि मूर्च्छित मनुष्य सदा सोया हुआ अर्थात् सन्मार्ग को भूला हुआ होता है (44)। इच्छाओं के तृप्त न होने पर वह शोक करता है, क्रोध करता है, दूसरों को सताता है और उनको नुकसान पहुँचाता है (37)। यहाँ यह समझना चाहिए कि सतत हिंसा में संलग्न रहने वाला व्यक्ति भयभीत व्यक्ति होता है। आचारांग ने ठीक ही कहा है कि प्रमादी (मूर्च्छित) व्यक्ति को सब ओर से भय होता है (62)। वह सदैव मानसिक तनावों से भरा रहता है। चूंकि उसके अनेक चित्त होते हैं, इसलिए उसका अपने लिए शान्ति (तनाव मुक्ति) का दावा करना ऐसे ही है जैसे कोई चलनी को पानी से भरने का दावा करे (53)। मूर्च्छित मनुष्य संसार रूपी प्रवाह में तैरने के लिए बिल्कुल समर्थ नहीं होता है (33)। वह भोगों का अनुमोदन करने वाला होता है तथा दुःखों के भँवर में ही फिरता रहता है (34)।

श्रमणाचार का आध्यात्मिक और नैतिक पक्ष

आचारांग सूत्र में सूत्रकार ने श्रमण (साधक) के लिए स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक, प्रेरक तथा उनसे प्राप्त शिक्षाओं का उल्लेख किया हैः-

यह मूर्च्छित मनुष्यों का जगत् है। ऐसा होते हुए भी यह जगत् मनुष्य को ऐसे अनुभव प्रदान करने के लिये सक्षम है, जिनके द्वारा वह अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिये प्रेरणा प्रदान कर सकता है। मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यों न हो फिर भी बुढ़ापा, मृत्यु और धन-वैभव की अस्थिरता उसको एक बार जगत् के रहस्य को समझने के लिए बाध्य कर ही देते हैं। यह सच है कि कुछ मनुष्यों के लिए यह जगत् इन्द्रिय-तुष्टि का ही माध्यम बना रहता है (66), किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे संवेदनशील बने रहते हैं कि जगत् उनकी मूर्च्छा को आखिर तोड़ ही देता है।

मनुष्य देखता है कि प्रतिक्षण उसकी आयु क्षीण हो रही है। अपनी बीती हुई आयु को देखकर वह व्याकुल होता है और बुढ़ापे में उसका मन गड़बड़ा जाता है। जिसके साथ वह रहता है, वे ही आत्मिकजन उसको भला-बुरा कहने लगते हैं और वह भी उन्हें भला-बुरा कहने लग जाता है। बुढ़ापे की अवस्था में वह मनोरंजन के लिए, क्रीड़ा के लिए तथा प्रेम के लिए नीरसता व्यक्त करता है (25)। अतः आचारांग का शिक्षण है कि ये आत्मीयजन मनुष्य के सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होते हैं और वह भी उनके सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होता है (25)। इस प्रकार मनुष्य बुढ़ापे को समझकर आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रहण करे तथा संयम के लिए प्रयत्नशील बने और वर्तमान मनुष्य जीवन को देखकर आसक्ति रहित बनने का प्रयास करे

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(26)।

आचारांग का कथन है कि हे मनुष्यों! आयु बीत रही है, यौवन भी बीत रहा है, अतः प्रमाद (आसक्ति) में मत फंसो (26) और जब तक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो तब तक स्व-अस्तित्व के प्रति जागरूक होकर आध्यात्मिक विकास में लगो (28)।

आचारांग सर्व अनुभूत तथ्य को दोहराता है कि मृत्यु के लिए किसी भी क्षण न आना नहीं है (32)। इसी बात को ध्यान में रखते हुए फिर आचारांग कहता है कि मनुष्य इस देह-संगम को देखे। यह देह संगम छूटता अवश्य है। इसका तो स्वंभाव ही नश्वर है। यह अध्रुव है, अनित्य है और अशाश्वत है (71)। आचारांग उनके प्रति आश्चर्य प्रकट करता है जो मृत्यु के द्वारा पकड़े हुए होने पर भी संग्रह में आसक्त होते हैं (66)। मृत्यु की अनिवार्यता हमारी आध्यात्मिक प्रेरणा का कारण बन सकती है। कुछ मनुष्य इससे प्रेरणा ग्रहण कर अनासक्ति की साधना में लग जाते हैं।

जब मूर्च्छित मनुष्य को संसार की निस्सारता का भान होने लगता है (54), तो इसकी मूर्च्छा की सघनता धीरे-धीरे कम होती जाती है और वह अध्यात्म मार्ग की ओर चल पड़ता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि अध्यात्म में प्रगति किया हुआ व्यक्ति मिल जाए तो भी मूर्च्छित मनुष्य जागृत स्थिति में छलाँग लगा सकता है (77)। इस तरह से बुढ़ापा, मृत्यु, धन-वैभव का नाश, संसार की निस्सारता और जागृत मनुष्य (मुनि अनगार) के दर्शन-ये सभी मूर्च्छित मनुष्य को आध्यात्मिक प्रेरणा देकर उसमें स्व-अस्तित्व का बोध पैदा कर सकते हैं।

आन्तरिक रूपान्तरणः- आत्म-जागृति अथवा स्व-अस्तित्व के बोध के पश्चात् आचारांग साधक को (मनुष्य को) चारित्रात्मक आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व का निरूपण करते हुए साधना के ऐसे सारभूत सूत्रों को बतलाता है, जिससे उसकी साधना पूर्णता को प्राप्त हो सके। कहा है कि हे मनुष्य! तू ही तेरा मित्र है (59), तू अपने मन को रोककर जी (60) जो सुन्दर चित्तवाला है, वह व्याकुलता में नहीं फंसता है (69), तू मानसिक विषमता (राग-द्वेष) के साथ युद्ध कर, तेरे लिए बाहरी व्यक्तियों से युद्ध करने से क्या लाभ (74) बंध (अशांति) और मोक्ष (शान्ति) तेरे अपने मन में ही है (72)। धर्म न गाँव में होता है न जंगल में, वह तो एक प्रकार का आन्तरिक रूपान्तरण है (80)। कहा गया है कि जो ममत्व-बुद्धि को छोड़ देता है, वह ममत्ववाली वस्तु को छोड़ता है, जिसके लिए कोई ममतावाली वस्तु नहीं है, वह ही ऐसा ज्ञानी है (मुनि है) जिसके द्वारा अध्यात्म पथ जाना गया है (40)।

साधना के सूत्रः- आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व को समझाने के बाद आचारांग ने हमें साधना की दिशाएँ बताई हैं। ये दिशाएँ ही साधना के सूत्र हैं। अतः इन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। ये सूत्र हैं-

1. अज्ञानी मनुष्य का बाह्य जगत् से सम्पर्क उसमें आशाओं और इच्छाओं को जन्म दे देता है। मनुष्यों से वह अपनी आशाओं की पूर्ति चाहने लगता है और वस्तुओं की प्राप्ति के द्वारा वह इच्छाओं की तृप्ति चाहता है। इस तरह से मनुष्य आशाओं और इच्छाओं का पिण्ड बना रहता है। ये ही उसके मानसिक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तनाव, अशान्ति और दुःख के कारण होते हैं (35)। इसलिए आचारांग का कथन है कि मनुष्य आशा और इच्छा को त्यागे (35)।

2. जो व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है, वह बहिर्मुखी ही बना रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके कर्मबंधन नहीं हटते हैं और उसके विभाव संयोग (राग-द्वेषात्मक भाव) नष्ट नहीं होते हैं (68)। अतः इन्द्रिय-विषय में अनासक्ति साधना के लिए आवश्यक है। यहीं से संयम की यात्रा प्रारम्भ होती है (46)। आचारांग का कथन है कि हे मनुष्य! तू अनासक्त हो जा और अपने को नियन्त्रित कर (67)। जैसे अग्नि जीर्ण (सूखी) लकड़ियों को नष्ट कर देती है, इसी प्रकार अनासक्त व्यक्ति राग-द्वेष को नष्ट कर देता है (60)।
3. कषाय मनुष्य की स्वाभाविकता को नष्ट कर देता है। कषायों का राजा मोह है। जो एक मोह को नष्ट कर देता है, वह बहुत कषायों को नष्ट कर देता है (62)। अहंकार मृदु सामाजिक सम्बन्धों तथा आत्म-विकास का शत्रु है। कहा है कि उत्थान का अहंकार होने पर मनुष्य मूढ बन जाता है (75)। जो क्रोध आदि कषायों को तथा अहंकार को नष्ट करके चलता है वह संसार-प्रवाह को नष्ट कर देता है (55)।
4. मानव-समाज में न कोई नीच है, न कोई उच्च है (30)। सभी के साथ समता पूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिये। आचारांग के अनुसार समता में ही धर्म है।
5. इस जगत में सब प्राणियों के लिये पीड़ा अशान्ति है, दुःख युक्त है (23)। सभी प्राणियों के लिए यहाँ सुख अनुकूल होते हैं, दुःख प्रतिकूल होते हैं, दुःख अप्रिय होता है तथा जिन्दा रहने की अवस्थाएँ प्रिय होती हैं। सब प्राणियों के लिये जीवन प्रिय होता है (32)। अतः आचारांग का कथन है कि कोई भी प्राणी मारा नहीं जाना चाहिए, गुलाम नहीं बनाया जाना चाहिये, शासित नहीं किया जाना चाहिए और अशान्त नहीं किया जाना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है (64)। जो अहिंसा का पालन करता है, वह निर्भय हो जाता है (62)। हिंसा तीव्र से तीव्र होती है, परन्तु अहिंसा सरल होती है (62)। अतः हिंसा को मनुष्य त्यागे। प्राणियों में तात्त्विक समता स्थापित करते हुए आचारांग अहिंसा भावना को दृढ़ करने के लिए कहता है कि जिसको तू मारे जाने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसको तू शासित किये जाने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसको तू सताये जाने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसको तू गुलाम बनाये जाने योग्य मानता है, वह तू ही है, जिसको तू अशान्त किये जाने योग्य मानता है, वह तू ही है (78)। इसलिए ज्ञानी (मुनि) जीवों के प्रति दया का उपदेश दें और दया पालन की प्रशंसा करें (85)।
6. आचारांग ने समता और अहिंसा की साधना के साथ सत्य की साधना को भी स्वीकार किया है। आचारांग का शिक्षण है कि हे मनुष्य! तू सत्य का निर्णय कर, सत्य में धारणा कर और सत्य की आज्ञा में उपस्थित रह (52-61)।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

7. संग्रह समाज में आर्थिक विषमता पैदा करता है। अतः आचारांग का कथन है कि मनुष्य अपने को संग्रह-परिग्रह से दूर रखे (36)। बहुत प्राप्त करके भी वह उसमें आसक्ति युक्त न बने (36)।
8. आचारांग में समतादर्शी (अर्हत्) की आज्ञापालन को कर्त्तव्य कहा गया है (83)। कहा है कि कुछ लोग समतादर्शी की अनाज्ञा में भी तत्परता सहित होते हैं, कुछ लोग उसकी आज्ञा में भी आलसी होते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए (80)। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञापालन किये जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं है? उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता का हनन तब होता है जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जाने वाली समस्याओं में भी आज्ञापालन को महत्त्व दिया जाय। किन्तु जहाँ बुद्धि की पहुँच न हो ऐसे आध्यात्मिक रहस्यों के क्षेत्र में आत्मानुभवी (समतादर्शी) की आज्ञा का पालन ही साधक (अणगार) के लिए आत्म-विकास का माध्यम बन सकता है। संसार को जानने के लिए संशय अनिवार्य है (69),पर समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य है (76)। इससे भी आगे चलें तो समाधि में पहुँचने के लिए समतादर्शी की आज्ञा में चलना आवश्यक है। संशय से विज्ञान जन्मता है, पर आत्मानुभवी की आज्ञा में चलने से ही समाधि अवस्था तक पहुँचा जा सकता है। अतः आचारांग ने अर्हत् की आज्ञा पालन को कर्त्तव्य कहकर आध्यात्मिक रहस्यों को जानने के लिए मार्ग प्रशस्त किया गया है।
9. मनुष्य लोक की प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है, उसकी पहुँच तो सामान्य कार्यों तक ही होती है। मूल्यों का साधक (मुनि) व्यक्ति असाधारण व्यक्ति होता है। अतः उसको अपने क्रान्तिकारी कार्यों के लिए प्रशंसा मिलना कठिन होता है। प्रशंसा का इच्छुक प्रशंसा न मिलने पर कार्यों को निश्चय ही छोड़ देगा। आचारांग ने मनुष्य की इस वृत्ति को समझकर कहा है कि मूल्यों का साधक (मुनि) लोक के द्वारा प्रशंसित होने के लिए इच्छा ही न करे (65)। वह तो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में मूल्यों की साधना से सदैव जुड़ा रहे।

साधना की पूर्णता

साधना की पूर्णता होने पर हमें ऐसे महामानव के दर्शन होते हैं जो व्यक्ति के विकास और सामाजिक प्रगति के लिये प्रेरणा स्तम्भ होता है। आचारांग में ऐसे महामानव की विशेषताओं को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। उसे द्रष्टा, अप्रमादी, जागृत, अनासक्त, वीर, कुशल आदि शब्दों से इंगित किया गया है। उस द्रष्टा के सम्बन्ध में कहा गया है कि ''द्रष्टा के लिए कोई उपदेश नहीं है (38)। उसका कोई नाम नहीं है (71)। उसकी आँखें, विस्तृत होती हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण लोक को देखने वाला होता है (44)। वह बन्धन और मुक्ति के विकल्पों से परे होता है (50)। वह शुभ-अशुभ आदि दोनों अन्तों से नहीं कहा जा सकता है, इसलिए वह द्वन्द्वातीत होता है (49-57) और लोक में किसी के द्वारा न छेदा जा सकता है, न भेदा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, तथा न मारा जा सकता है (57)। वह पूर्ण जागरूकता से चलने वाला होता है, अतः वह वीर हिंसा में संलग्न नहीं होता है (42)। वह सदैव ही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिकता में जागता है (44)। वह अनुपम प्रसन्नता में रहता है (49)। वह कर्मों से रहित होता है। उसके लिए सामान्य लोक प्रचलित आचरण आवश्यक नहीं होता है (48)। किन्तु उसका आचरण व्यक्ति व समाज के लिए मार्गदर्शक होता है। आचारांग का शिक्षण है कि जिस काम को जागृत व्यक्ति करता है, व्यक्ति व समाज उसको करे (43)। वह इन्द्रियों के विषयों को द्रष्टाभाव से जानता है, इसलिए वह आत्मवान, ज्ञानवान, वेदवान, धर्मवान और ब्रह्मवान कहा जा सकता है (45)। जो लोक में परम तत्त्व को देखने वाला है, वह वहाँ विवेक से जीने वाला होता है। वह तनावमुक्त, समतावान, कल्याण करने वाला, सदा जितेन्द्रिय कार्यों के लिये उचित समय को चाहने वाला होता है तथा वह अनासक्तिपूर्वक लोक में गमन करता है (59)। उस महामानव के आत्मानुभव का वर्णन करने में सब शब्द लौट आते हैं, उसके विषय में कोई तर्क उपयोगी नहीं होता है, बुद्धि उसके विषय में कुछ भी पकड़ने वाली नहीं होती है (81) आत्मानुभव की वह अवस्था आभामयी होती है। वह केवल ज्ञाता-द्रष्टा अवस्था होती है (81)।

आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमण-चर्या

आचारांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध पाँच चूलिकाओं में विभक्त है, जिसमें आचार-प्रकल्प अथवा निशीथ नामक पंचम चूलिका आचारांग से अलग होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गई है। अतः वर्तमान द्वितीय श्रुतस्कन्ध में केवल चार चूलिकाएँ ही हैं। इन चूलिकाओं में श्रमण-चर्या से सम्बन्धित विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें आहार, भिक्षा, ग्राह्यजल, अग्राह्य भोजन, शय्यैषणा, ईर्यापथ, भाषा प्रयोग, वस्त्र धारण, पात्रैषणा, अवग्रहैषणा, मलमूत्र-विसर्जन, शब्द-श्रवण, रूपदर्शन एवं पर क्रिया-निषेध मुख्य है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

आहार- श्रमण के लिये यह एक सामान्य नियम है कि यदि अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम छोटे-बड़े जीवों से युक्त हो, काई से व्याप्त हो तो, गेहूँ आदि के दानों के सहित हो, हरी वनस्पति आदि से मिश्रित हो, ठण्डे पानी से भिगोया हुआ हो, रजवाला हो तो उसे भिक्षु स्वीकार न करे। भोजन करने के स्थान के बारे में कहा गया है कि स्थान एकान्त हो, किसी वाटिका, उपाश्रय अथवा शून्यगृह में किसी के न देखते हुए वह भोजन करे। भिक्षा के लिये अन्य मत के साधु अथवा गृहस्थ के साथ किसी के घर में प्रवेश न करे अथवा घर से बाहर न निकले। जो भोजन अन्य श्रमणों अर्थात् बौद्धश्रमणों, तापसों, आजीविकों आदि के लिये अथवा अतिथियों, भिखारियों, वनीपकों के लिये बनाया गया हो उसे ग्रहण न करे। जिन कुलों में भिक्षु, भिक्षा के लिये जाते थे वे कुल हैं- उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्वाक्षुकुल, हरिवंशकुल, एेसिअकुल, गोष्ठों का कुल, वेसिअकुल (वैश्यकुल), गंडाग कुल (गाँव में घोषणा करने वाले नापितों का कुल), कोट्टागकुल (बढ़ई कुल), बुक्कस अथवा बोक्कशालिय कुल (बुनकर कुल)। जो कुल अनिन्दित एवं अजुगुप्सित हैं, उन्हीं में भिक्षा के लिए जाना चाहिए। उत्सव के निमित्त से आये हुए व्यक्तियों के भोजन कर लेने पर ही भिक्षु आहार-प्राप्ति के लिए किसी के घर में जाय। संखडि अर्थात् सामूहिक भोज में भिक्षा के लिए जाने का निषेध करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार की भिक्षा अनेक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दोषों की जननी है। संखडि में भिक्षा के लिए जाने से भयंकर दोष लगते हैं। भिक्षा के लिये जाने वाले भिक्षु को कहा गया है कि वह अपने सब आवश्यक उपकरण साथ रखकर ही भिक्षा के लिये जाय। आचारांग में आगे बताया गया है कि भिक्षु को क्षत्रियों अर्थात् राजाओं के कुलों में, कुराजाओं के कुलों में, राजभृत्यों के कुलों में, राजवंश के कुलों में भिक्षा के लिये नहीं जाना चाहिये। भिक्षु के लिये सम्मिलित सामग्री ग्रहण का नियम औत्सर्गिक नहीं, अपितु आपवादिक है।

ग्राह्यजल- भिक्षु के लिए निम्न प्रकार का जल ग्राह्य है। **उत्स्वेदिम**-पिसी हुई वस्तु को भिगोकर रखा हुआ पानी, **संस्वेदिम**-तिल आदि बिना पिसी वस्तु को धोकर रखा हुआ पानी, **तण्डुलोदक**-चावल का धोवन, **तिलोदक**-तिल का धोवन, **तुषोदक**- तुष का धोवन, **यवोदक**-यव का धोवन, **आयाम-चावलों का मांड, आरनाल**-कांजी, **शुद्ध अचित्त**-निर्जीव पानी, **आम्रपानक**-आम का पानक, द्राक्ष का पानी, बिल्व का पानी, अमचूर का पानी, अनार का पानी, खजूर का पानी, नारियल का पानी, केर का पानी, बेर का पानी, आंवले का पानी, इमली का पानी इत्यादि।

अग्राह्य भोजन- भिक्षु पकाई हुई वस्तु ही भोजन के लिये ले सकता है, कच्ची नहीं।

शय्यैषणा- आचारांग में कहा गया है कि जिस स्थान में गृहस्थ सकुटुम्ब रहते हों वहाँ भिक्षु नहीं रह सकता, क्योंकि ऐसे स्थान में रहने से अनेक दोष लगते हैं।

ईर्यापथ- स्थान, गमन, निषद्या और शयन इन चार का ईर्यापथ में समावेश होता है। अपने समस्त उपकरण साथ में लेकर सावधानी पूर्वक गमन करने, शरीर के अवयव न हिलाने, हाथ न उछालने और पैर न पछाड़ने का नाम ईर्यापथ है। वर्षा ऋतु में भिक्षु को प्रवास नहीं करना चाहिये। मार्ग में नदी आदि आने पर उसे नाव की सहायता के बिना पार न कर सकने की स्थिति में ही भिक्षु नाव का उपयोग करे, अन्यथा नहीं।

भाषा प्रयोग- आचारांग के चतुर्थ अध्ययन में भिक्षु को किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए, किसके साथ कैसी भाषा बोलनी चाहिए, भाषा प्रयोग में किन बातों का विशेष ध्यान देना चाहिए, इन सब बिन्दुओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

वस्त्र-धारण- जो भिक्षु तरुण हो, बलवान् हो, रुग्ण न हो उसे एक वस्त्र धारण करना चाहिये, दूसरा नहीं। भिक्षुणी को चार संघरियाँ धारण करनी चाहिये जिनमें एक दो हाथ चौड़ी हो, दो तीन हाथ चौड़ी हो और एक चार हाथ चौड़ी हो। ऊँट आदि की ऊन से बना हुआ, द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की लार से बना हुआ, सन की छाल से बना हुआ, ताडपत्र के पत्तों से बना हुआ, कपास का बना हुआ तथा आक आदि की रूई से बना हुआ वस्त्र श्रमण काम में ले सकते हैं। जैन श्रमणों के लिये कम्बल आदि बहुमूल्य वस्त्र के उपयोग का स्पष्ट निषेध है।

पात्रैषणा- तरुण, बलवान एवं स्वस्थ भिक्षु को केवल एक पात्र रखना चाहिये। यह पात्र अलाबु, काष्ठ अथवा मिट्टी का हो सकता है। बौद्ध श्रमणों के लिए मिट्टी व लोहे के पात्र का उपयोग विहित है, काष्ठ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि के पात्र का नहीं।

अवग्रहैषणा- अवग्रह अर्थात् किसी के स्वामित्व का स्थान। निर्ग्रन्थ भिक्षु किसी स्थान में ठहरने के पूर्व उसके स्वामी की अनिवार्य रूप से अनुमति ले। ऐसा न करने पर उसे अदत्तादान-चोरी करने का दोष लगता है।

मलमूत्र-विसर्जन- भिक्षु को अपना टट्टी-पेशाब कहाँ व कैसे डालना चाहिए, इसका निरूपण करते हुए वर्णन आचारांग में कहा गया है कि जहाँ और जिस प्रकार इन्हें डालने से किसी भी प्राणी के जीवन की विराधना की आशंका न हो वहाँ व उस प्रकार से भिक्षु को मलमूत्रादिक डालना चाहिये।

शब्द-श्रवण व रूपदर्शन- किसी भी प्रकार के मधुर शब्द सुनने की भावना से अथवा कर्कश शब्द न सुनने की इच्छा से भिक्षु को गमनागमन नहीं करना चाहिए। फिर भी यदि सुनने ही पड़ें तो समभावपूर्वक सुनना व सहन करना चाहिए। यही बात मनोहर रूपादि के विषय में भी है।

परक्रिया निषेध- परक्रिया अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसके शरीर पर की जाने वाली किसी भी प्रकार की क्रिया, यथा शृंगार, उपचार आदि स्वीकार करने का निषेध किया गया है। इसी प्रकार श्रमण-श्रमणी के बीच की परक्रिया भी निषिद्ध है।

ममत्व मुक्ति- ममत्वमूलक आरम्भ और परिग्रह के फल की मीमांसा करते हुए भिक्षु को उनसे दूर रहने को कहा गया है। उसे पर्वत की भांति निश्चल और दृढ़ रहकर सर्प की केंचुली की भांति ममत्व को उतारकर फेंक देना चाहिए।

वीतरागता एवं सर्वज्ञता- साधक-जीवन में प्रधानता एवं महत्ता केवलज्ञान-केवलदर्शन की नहीं है, अपितु वीतरागता, वीतमोहता, निरास्रवता, निष्कषायता की है। जिसमें वीतरागता है वह सर्वज्ञ है- उसका ज्ञान निर्दोष है। जिसमें सरागता है वह अल्पज्ञ है- उसका ज्ञान सदोष है।

श्रमण-श्रमणी चर्या के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र-

1. श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त- ये सब शास्त्र-विहित आचरण करने वालों के नाम हैं।
2. परमपद की खोज में निरत साधु सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, वृषभ के समान भद्र, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह, वायु के समान निस्संग, सूर्य के समान तेजस्वी, सागर के समान गंभीर, मेरु के समान निश्चल, चन्द्रमा के समान शीतल, मणि के समान कांतिमान, पृथ्वी के समान सहिष्णु, सर्प के समान अनियत-आश्रयी तथा आकाश के समान निरवलम्ब होते हैं। (साधु की ये चौदह उपमाएँ हैं।)
3. ऐसे भी बहुत से असाधु हैं जिन्हें संसार में साधु कहा जाता है, लेकिन असाधु को साधु नहीं कहना चाहिए, साधु को ही साधु कहना चाहिए।
4. ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में लीन तथा इसी प्रकार के गुणों से युक्त संयमी को ही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

साधु कहना चाहिए।

5. केवल सिर मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता, कुश-चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं होता। प्रत्युत वह समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है।
6. कोई भी गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। अतः साधु के गुणों को ग्रहण करो और असाधुता का त्याग करो। आत्मा को आत्मा के द्वारा जानते हुए जो रागद्वेष में समभाव रखता है, वही पूज्य है।
7. देहादि में अनुरक्त, विषयासक्त, कषायसंयुक्त तथा आत्मस्वभाव में सुप्त साधु सम्यक्त्व से शून्य होते हैं।
8. गोचरी अर्थात् भिक्षा के लिए निकला हुआ साधु कानों से बहुत सी अच्छी-बुरी बातें सुनता है और आँखों से बहुत सी अच्छी बुरी वस्तुएँ देखता है, किन्तु सबकुछ देख-सुनकर भी वह किसी से कुछ कहता नहीं है। अर्थात् उदासीन रहता है।
9. स्वाध्याय और ध्यान में लीन साधु रात में बहुत नहीं सोते हैं। सूत्र और अर्थ का चिन्तन करते रहने के कारण वे निद्रा के वश नहीं होते।
10. साधु ममत्वरहित, निरहंकारी, निस्संग, गौरव का त्यागी होने के साथ त्रस और स्थावर जीवों के प्रति समदृष्टि रखता है।
11. वह लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निंदा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समभाव रखता है।
12. वह गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त अनिदानी और बन्धन से रहित होता है।
13. वह इस लोक और परलोक में अनासक्त, वसूले से छीलने या चन्दन का लेप करने पर तथा आहार के मिलने या न मिलने पर भी सम रहता है, हर्ष-विषाद नहीं करता।
14. ऐसा श्रमण अप्रशस्त द्वारों (हेतुओं) से आने वाले आश्रवों का सर्वतोभावेन निरोधकर अध्यात्म-सम्बन्धी ध्यान-योगों से प्रशस्त संयम-शासन में लीन हो जाता है।
15. भूख, प्यास, दुःशय्या (ऊँची-नीची पथरीली भूमि) ठंड, गर्मी, अरति, भय आदि को बिना दुःखी हुए सहन करना चाहिए। क्योंकि दैहिक दुःखों को समभावपूर्वक सहन करना महाफलदायी होता है।
16. समता रहित श्रमण का वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवास, अध्ययन और मौन व्यर्थ है।
17. प्रबुद्ध और उपशान्त होकर संयतभाव से ग्राम और नगर में विचरण करना चाहिए। शान्ति का मार्ग बड़ा है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर।

-62, ओ.टी.सी. स्कीम, चरक छात्रावास के पीछे, उदयपुर (राज.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org